॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

मैत्रेय उपनिषद

विषय सूची

॥अथ मैत्रेय्युपनिषत् ॥ 3

मैत्रेय उपनिषद 5

प्रथमोऽध्यायः प्रथम अध्याय 5

द्वितीयोऽध्यायः द्वितीय अध्याय 13

तृतीयोऽध्यायः तृतीय अध्याय 23

शान्तिपाठ 31

॥ श्री हरि ॥

॥अथ मैत्रेय्युपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

श्रुत्याचार्योपदेशेन मुनयो यत्पदं ययुः ।
तत्स्वानुभूतिसंसिद्धं स्वमात्रं ब्रह्म भावये ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदंमाऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म
निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

मेरे सभी अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां पुष्ट हों। यह सब उपनिशद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ तथा ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करें। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदों मे जो धर्म हैं वे आत्मज्ञान मे लगे हुए मुझ मे स्थापित हों। मुझ मे स्थापित हों।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मैत्रेय्युपनिषत् ॥

मैत्रेय उपनिषद

प्रथमोऽध्यायः प्रथम अध्याय

ॐ बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं
मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम । स तत्र
परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य
मुनिरन्तिकमाजगामाग्नि रिवाधूमकस्तेजसा
निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीश्वेति
राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं
तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा
पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीश्वेति शाकायन्यस्य
चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥ १॥

बृहद्रथ नामक राजा को यह अनुभव हुआ कि यह शरीर नाशवान् है। ऐसी अनुभूति होने पर उन्हें वैराग्य हो गया। इस कारण वह अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन को चले गये। वहाँ उस राजा ने उग्र तपश्चर्या की। वह सूर्य के समक्ष अपनी दृष्टि स्थिर करके तथा हाथ ऊपर करके खड़े रहे। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त तपस्या के फल स्वरूप एक बार निधूम अग्नि के सदृश तेजस्वी शाकायन्य

नामक आत्मवेत्ता महामुनि उनके समीप आये। उन्होंने राजा बृहद्रथ से कहा- 'उठो-उठो ! वर माँगो।' तदनन्तर ऐसा सुनकर एवं देखकर राजा ने उन्हें नमन करते हुए कहा-हे भगवन् ! मैं आत्मवेत्ता नहीं हैं। आप तत्त्वज्ञाता हैं, ऐसा हमने सुना है। अतः आप मुझे 'तत्त्व' को उपदेश करने की कृपा करें। इस पर महामुनि शाकायन्य ने इस विषय को अति कठिन बताकर अन्य कोई वर माँगने के लिए कहा। ऐसा सुनकर बृहद्रथ राजा ने शाकायन्य मुनि के चरणों को स्पर्श करते हुए कहा ॥१॥

अथ किमएतैर्मान्यनां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २॥

मैत्रेय्युपनिषद् बड़े-बड़े समुद्र शुष्क पड़ जाते हैं, पर्वत शिखर टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देव भी (सदैव स्वर्ग में) स्थित नहीं रह पाते, तो फिर ऐसे नाशवान् संसार के विषय-भोगों से क्या लाभ? विषयों में डूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए हे मुनि प्रवर ! अँधेरे कुएँ में मेंढक की भाँति पड़े हुए मेरा उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। हे भगवन् ! इस संसार में मुझे शरण प्रदान करने वाले आप ही हैं ॥२॥

भगवञ्शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्त-कफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णमेतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ ३॥

हे भगवन् ! स्त्री-पुरुष जन्य यह शरीर यदि ज्ञान रहित हो, तो इसे नरक ही समझना चाहिए, क्योंकि यह मूत्र के द्वार से बाहर निःसृत हुआ है, अस्थियों के द्वारा निर्मित है, मांस द्वारा लेपन किया गया है, चमड़े के द्वारा मढ़ा गया है एवं विष्ठा, मूत्र, वात, पित, कफ, मज्जा, मेद (चर्बी) तथा अन्य कई तरह के मलों से भरा हुआ है। इस प्रकार के (बीभत्स) शरीर वाले मुझको शरण प्रदान करने में आप ही समर्थ हैं ॥३॥

अथ भगवाञ्छकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुर्वंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं खल्वात्मा ते कतमो भगवान्वर्ण्य इति तं होवाच ॥

ऐसा कहे जाने पर भगवान् शाकायन्य मुनि ने अति प्रसन्न होकर राजा से कहा -'हे महाराज बृहद्रथ ! तुम इक्ष्वाकु वंशीय श्रेष्ठ पुरुष हो, आत्मज्ञ हो,कृतकृत्य हो, मरुत् नाम से प्रख्यात हो, यही तुम्हारी आत्मा है। तदनन्तर राजा बृहद्रथ ने कहा- 'हे भगवन् ! आत्मा (का स्वरूप) क्या है? इस आत्मतत्त्व का वर्णन करने । की कृपा करें ? यह सुनकर मुनि ने कहा- ॥४॥

शब्दस्पर्शमया येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः ।
येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥ १॥

शब्द, स्पर्शादि विषय अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं तथा उसमें आसक्त हुए जीवात्मा को परम (श्रेष्ठ) पद को स्वरूप स्मृति में नहीं आता ॥५॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्सम्प्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥ २॥

तप के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान के वश में होने से मन वशीभूत होता है, मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा के प्राप्त हो जाने पर इस नश्वर संसार से मुक्ति मिल जाती है ॥६॥

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ ३॥

जैसे ईंधन (लकड़ी) के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयमेव बुझ जाती है, वैसे ही वृत्तियों के नष्ट होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शान्त रूप हो जाता है ॥७॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ४॥

अपने मूल कारण में शान्त एवं सत्य की ओर उन्मुख हुए मन को,इन्द्रियों के विषय-सम्बन्धी मूढ़ता (आसक्ति) के दूर होते ही, कर्मों के वशीभूत ये विषय झूठे (असत्य) मालूम होते हैं ॥८॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ५॥

चित्त ही संसार है, अत: प्रयत्नपूर्वक उस (चित्त) का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार का जिसका चित्त होगा, उसकी उसी प्रकार की गति होती है, यह एक गूढ़ सनातन सिद्धान्त है ॥९॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ६॥

चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्मों का शमन हो जाता है तथा शान्त बना मनुष्य, जब-जब आत्मा में लीन होता है, तब-तब उसे अक्षय एवं असीम आनन्द की प्राप्ति होती है ॥१०॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम् ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ७॥

मनुष्यों का चित्त जितना बाह्य विषय-भोगों में आसक्त रहता है, उतना यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाए, तो फिर बन्धनों से कौन मुक्त न हो जाए? (अर्थात् सभी मुक्त हो जाएँ) ॥११॥

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम् ।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥ ८॥

अगोचरं मनोवाचामवधूतादिसम्प्लवम् ।
सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ ९॥

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम् ।
ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १०॥

हृदय कमल के मध्य, बुद्धि के समस्त कर्मों के साक्षी रूप एवं परम-अनुपम प्रेम के विषयभूत परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए॥यह अविनाशी परमात्मा मन एवं वाणी से नहीं जाना जा सकता। यह आदि तथा अन्त से रहित है। यह एक मात्र सत् रूपी प्रकाश से सतत प्रकाशित होता है और कल्पनातीत है॥उस परमात्म तत्त्व को स्वीकार करने एवं छोड़ने के लिए सामान्य भाव की अथवा विशेष भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह परमात्मा तो शान्त, स्थिर एवं गम्भीर है। वह प्रकाश युक्त भी नहीं है और अन्धकार रूप में फैला हुआ भी नहीं है, बल्कि संकल्परहित, आभासरहित एवं मुक्त-चैतन्य रूप है ॥१२-१४॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः ।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥ ११॥

वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, मुक्त स्वभाव, सत्यरूप, सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक और अद्वितीय है। इस परमानन्द सागर एवं प्रत्येक स्वरूप को धारण करने वाला मैं ही हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है ॥१५॥

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयं तमाशापिशाचीमवमनयन्तम् ।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥ १२॥

अन्त:करण में प्राप्त होने वाले आनन्द के आश्रित रहने वाली आशारूपी पिशाचिनी को दूर धकेलने वाले, सम्पूर्ण जगत् को मदारी के खेल की भाँति देखने वाले एवं असंग (आसक्ति रहित) रहने वाले (ऐसे) मेरे अन्तःकरण में दुःखों का प्रवेश कहाँ से हो सकता है? ॥१६॥

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥ १३॥

वर्ण एवं आश्रम धर्म का पालन करने वाले अज्ञानी जन ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं, लेकिन वर्ण आदि के धर्मों को त्यागकर आत्मा में ही स्थिर रहने वाले मनुष्य अन्तः के आनन्द से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं ॥१७॥

वर्णाश्रमं सावयवं स्वरूप माद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम् ।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्त इति ॥ १४॥
४॥

वर्ण एवं आश्रम के धर्म तथा वैसे ही अंग-अवयवों से युक्त यह शरीर-ये सभी आदि-अन्त वाले होने के कारण अत्यन्त कष्टप्रद ही हैं। अतः पुत्र आदि के शरीरों पर मोह न रखते हुए परमानन्द रूप अनन्त में प्रतिष्ठित रहना चाहिए ॥१८॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मैत्रेय्युपनिषत् ॥

मैत्रेय उपनिषद

द्वितीयोऽध्यायः द्वितीय अध्याय

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम तं गत्वोवाच
भो भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति ॥

स होवाच महादेवः ॥

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहम्भावेन पूजयेत् ॥ १॥

एक बार भगवान् मैत्रेय कैलास पर्वत पर गये। वहाँ जाकर महादेव जी से उन्होंने कहा–'हे भगवन्! मुझे परम तत्त्व का रहस्य बताने की कृपा करें।' महादेव जी ने कहा- 'शरीर देवालय है तथा उसमें रहने वाला जीव ही केवल शिव-परमात्मा है। अत: अज्ञान रूप निर्माल्य को (पुरानी (बासी) माला की तरह से) छोड़ देना चाहिए तथा परमात्मा मैं ही हूँ, ऐसा समझकर ही उसकी पूजा करनी चाहिए ॥१॥

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ २॥

जीव तथा ब्रह्म एक है,ऐसा मानना ही ज्ञान है और मन को विषयों से अलग रखना ही ध्यान है, मन के मैल को छुड़ाना ही स्नान तथा इन्द्रियों को वश में रखना ही पवित्रता है ॥२॥

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ३॥

ब्रह्मरूपी अमृत का पान करना, शरीर रक्षा के उद्देश्य से ही भिक्षा माँगना, स्वयं अकेला रहकर एकान्त में निवास करना, इस प्रकार से जीवनयापन करता हुआ ज्ञानवान् मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है ॥३॥

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ४॥

माता-पिता के मलरूप (शुक्रशोणित) से उत्पन्न, जन्म-मृत्यु वाले, सुख-दुःख के भण्डार-रूप एवं अपवित्र इस शरीर को स्पर्श करने के पश्चात् स्नान किया जाता है ॥४॥

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ५॥

सात धातुओं में निर्मित, महारोग से युक्त, पाप के घर की भाँति, सतत चलायमान (अस्थिर), विकारों से भरे हुए इस शरीर को स्पर्श करने के उपरान्त स्नान अवश्य करना चाहिए ॥५॥

नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वभावजम् ।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६॥

आँख, कान आदि नौ द्वारों से युक्त इस शरीर से सदा स्वाभाविक रीति से हर समय मल-स्रवित होता (निकलता) रहता है तथा इस मल की दुर्गन्ध से यह शरीर हमेशा परिपूर्ण रहता है, ऐसे इस दुर्गन्धयुक्त, मलिन शरीर को स्पर्श करने के बाद स्नान अवश्य करना चाहिए ॥६॥

मातृसूतकसम्बन्धं सूतके सह जायते ।
मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७॥

माता के सूतक से सम्बन्धित होने से मनुष्य के साथ ही सूतक भी जन्म ले लेता है तथा मरण काल को सूतक भी इस देह के साथ ही लगा रहता है। अतः शरीर का स्पर्श होने पर स्नान अवश्य करना चाहिए ॥७॥

अहम्ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥ ८॥

मल, मूत्रादि दुर्गन्धयुक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल आदि से होती है; लेकिन वह सब तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक पवित्रता तो मैं और मेरा' का परित्याग करने से ही होती है ॥८॥

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम् ।
ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥ ९॥

पवित्रता चित्त का शोधन करती है और वासनाओं को नष्ट करती है; परन्तु ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से प्रक्षालन के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है ॥९॥

अद्वैतभावनाभैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम् ।
गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥ १०॥

अद्वैत की भावना ही वास्तव में सच्ची भिक्षावृत्ति है एवं द्वैत की भावना ही अभक्ष्य वस्तु है। भिक्षुक को गुरु तथा शास्त्र के आदेशानुसार भिक्षा माँगनी चाहिए ॥१०॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः ।
कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्दूरतो वसेत् ॥ ११॥

जिस तरह से चोर कैदखाने से छूटकर दूर जाकर निवास करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को संन्यास । ग्रहण कर अपने देश से दूर निवास के लिए चले जाना चाहिए ॥११॥

अहङ्कारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम् ।
आशापत्नी त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १२॥

अहंकार रूपी पुत्र का, वित्त (धन) रूपी भाई का, मोहरूपी घर का तथा आशा रूपी पत्नी का परित्याग कर देने वाला शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥१२॥

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥ १३॥

मोहरूपी माँ मृत्यु को प्राप्त हो गयी और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया है, इस कारण मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या-वन्दन आदि कार्य किस प्रकार किये जा सकते हैं? ॥१३॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥ १४॥

हृदयरूपी आकाश में चैतन्य रूप सूर्य सदैव प्रकाशित रहता है और फिर वह न अस्त होता है न उदय ही। तब फिर सन्ध्या किस प्रकार (कब) करे? ॥१४॥

एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम् ।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥ १५॥

यहाँ पर सभी कुछ एक ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा गुरु के उपदेश द्वारा निश्चय हो गया है। यह भावना ही एकान्त स्वरूप है, मठ अथवा वन का मध्य भाग एकान्त नहीं है। ॥१५॥

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् ।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ १६॥

जो मनुष्य संशयरहित हैं,वे ही मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं तथा जिन लोगों को संशय है,वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते। इसलिए गुरु एवं शास्त्र के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए ॥१६॥

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु ।
सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ १७॥

कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास नहीं है। इसी प्रकार 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसा कह देने से भी कोई संन्यासी नहीं हो सकता। समाधि अवस्था में जीव-परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहा जाता है ॥१७॥

वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु ।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १८॥

जिस मनुष्य को समस्त एषणाएँ-इच्छायें वमन किये हुए (उगले हुए) आहार के समान लगती हैं और जिसने शरीर की ममता त्याग दी है, उसको संन्यास का अधिकार है ॥१८॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १९॥

जब सभी वस्तुओं से मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तभी विद्वान् मनुष्य को संन्यास-धर्म ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा उसका अवश्य ही पतन हो जाता है ॥१९॥

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।
संन्यसेद्दुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥ २०॥

जो मनुष्य द्रव्य (धन) के, अन्न के, वस्त्रों के अथवा ख्याति के लोभ में संन्यास-धर्म ग्रहण कर लेता है, वह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता ॥२०॥

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २१॥

तत्त्व का चिन्तन ही उत्तम (श्रेष्ठ) है, शास्त्र का चिन्तन मध्यम है, मन्त्रों का चिन्तन (साधना) अधम है और तीर्थों में भ्रमण करना अधम से भी अधम है ॥२१॥

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २२॥

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य शाखा के अग्र भाग में प्रतिबिम्ब के रूप में दिखाई देने वाले फल का रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहे, उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना अज्ञानी मनुष्य ब्रह्म का आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है ॥२२॥

न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधुकरमातरम् ।
वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २३॥

जो संन्यासी मुक्त हो चुका है, वह वैराग्य रूपी पिता को, श्रद्धा रूपी पत्नी को और ज्ञान रूपी पुत्र को न छोड़ते हुए अन्त:करण में स्थित अद्वैतभावना का आनन्दमय रूप में चिन्तन करे ॥२३॥

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥ २४॥

जो (मनुष्य) धन में बड़ा है, जो आयु में बड़ा है अथवा जो विद्या में बड़ा है, वे सब अनुभव में बड़े के समक्ष नौकर अथवा शिष्य की भाँति ही हैं ॥२४॥

यन्माययया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।
परं विदग्दोधरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥ २५॥

जो माया के प्रभाव से मूढ़ चित्त वाले होकर के 'मैं' रूपी आत्मा को सम्यक् रूप से नहीं जानते, वे । यदि बुद्धिमान् भी हों, तो कौए की भाँति अभागे पेट को भरने के लिए जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते हैं ॥२५॥

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय
॥२६॥

प्रस्तर खण्ड, स्वर्ण अथवा मिट्टी द्वारा निर्मित मूर्तियों की पूजा, मोक्ष की इच्छा वाले को पुनः जन्म एवं भोग प्राप्त कराने वाली होती है। इस कारण पुनः जन्म न ग्रहण करना पड़े, इस उद्देश्य से संन्यासी को इस प्रकार बाह्य जगत् की पूजा का परित्याग करके हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी चाहिए ॥२६॥

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥२७॥

समुद्र में रखा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर जल से पूर्ण है तथा बाहर शून्य में स्थित घड़ा अन्दर और बाहर खाली ही है ॥२७॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलं त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ २८॥

आप ग्रहण करने वाले न बनें। इसी तरह से ग्रहण करने योग्य विषयरूप भी न बनें। इस प्रकार की सभी कल्पनाओं का त्याग करके शेष जो कुछ भी रहे, उसी में तन्मय रहें ॥२८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥ २९॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन को वासना के साथ ही त्याग करके, जिसमें से दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है,उसे आत्मा का ही तुम भजन करो ॥२९॥

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३०॥

सभी संकल्प जिसमें शान्त हो गये हैं, जागृति तथा निद्रा जिससे परे हो गयी है, ऐसी जो प्रस्तर खण्ड की भाँति (दृढ़ एवं निश्चेष्ट) अवस्था है, वही चरम स्वरूप की अवस्था है ॥३०॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मैत्रेय्युपनिषत् ॥

मैत्रेय उपनिषद

तृतीयोऽध्यायः तृतीय अध्याय

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ।
सर्वलोकगुरुश्चामि सर्वलोकेऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १॥

(अन्तः स्थित ब्रह्म) मैं हूँ और (बाह्य स्थित) पर (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति हुँ, समस्त लोकों का गुरु हैं और सभी लोकों में जो भी कुछ है, वह मैं ही हूँ ॥१॥

अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।
अहमस्मि सोमोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥ २॥

मैं ही सिद्ध हैं, मैं ही शुद्ध हूँ तथा परम तत्त्व भी मैं ही हूँ। मैं सदैव (विद्यमान रहता) हूँ, मैं नित्य हूँ। एवं मलरहित भी मैं ही हूँ ॥२॥

विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥ ३॥

मैं विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न हूँ, मैं विशेष हूँ, सोम मैं हूँ, सभी कुछ मैं ही हूँ। मैं शुभ हूँ, शोकरहित हूँ, सम हूँ तथा चैतन्य भी मैं ही हूँ ॥३॥

मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ४॥

मैं मान एवं अपमान से रहित हूँ, निर्गुण (गुणरहित) हैं, मैं ही शिव हूँ, द्वैत एवं अद्वैत के भाव से रहित हूँ, सुख तथा दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हूँ तथा वह (ब्रह्म) मैं ही हूँ ॥४॥

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ५॥

भाव-अभाव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से परे हूँ। भासा (प्रकाश) से अलग हैं, किन्तु प्रकाश भी मैं ही हूँ। मैं शून्य और अशून्य रूप हूँ तथा मैं ही सुन्दर और असुन्दर भी हूँ ॥५॥

तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः ।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥ ६॥

तुल्य-अतुल्य अर्थात् समता एवं विषमता से रहित हूँ, नित्य हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदाशिव हूँ। मैं सर्वअसर्व की कल्पना से रहित हूँ, सात्त्विक हूँ और मैं सदैव (विद्यमान रहने वाला) हूँ ॥६॥

एकसङ्ख्याविहीनोऽस्मि द्विसङ्ख्यावाहनं न च ।
सदसद्भेदहीनोऽस्मि सङ्कल्पसहितोस्म्यहम् ॥ ७॥

मैं एक संख्या विहीन (अद्वैतरहित) और दो संख्या रहित (द्वैतरहित) हूँ, सत् और असत् के भेद से रहित हूँ तथा मैं संकल्प से रहित हूँ ॥७॥

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः ।
नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ८॥

मैं विविधता से रहित तथा अखण्ड आनन्द स्वरूप हूँ। न मैं (अहं रूप) हूँ और अन्य भी नहीं हूँ। मैं शरीरादि से रहित हूँ ॥८॥

आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ।
बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ९॥

मैं आश्रय-निराश्रय से रहित हूँ, मैं आधार रहित हूँ, बन्ध एवं मोक्ष से भी रहित हूँ तथा मैं ही शुद्ध ब्रह्म स्वरूप हूँ ॥९॥

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः ।
सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १०॥

मैं चित्त आदि सभी से रहित हूँ, मैं परात्पर (ब्रह्म) हूँ। मैं सर्वदा विचार रूप हैं. साथ ही विचार से परे भी हूँ ॥१०॥

अकारोकाररूपोऽस्मि मकरोऽस्मि सनातनः ।
धातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ११॥

'अकार', 'उकार' एवं 'मकार' रूप सनातन मैं ही हूँ। मैं ध्याता, ध्यान एवं ध्येय से परे भी हूँ ॥११॥

सर्वपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।
सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२॥

मैं सर्वत्र पूर्णरूप हूँ, सच्चिदानन्द के लक्षणों से युक्त हूँ। सम्पूर्ण तीर्थों का स्वरूप भी मैं हूँ और परमात्म स्वरूप कल्याणकारी भगवान् शिव भी मैं ही हूँ ॥१२॥

लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् ।
मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥ १३॥

मैं लक्ष्य एवं अलक्ष्य से विहीन हूँ तथा लय न होने वाला रसे स्वरूप हूँ। मैं ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता से रहित तथा मैं ही शिव स्वरूप हूँ ॥१३॥

न जगत्सर्वद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोस्म्यहम् ।
प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि परोऽस्म्यहम् ॥ १४॥

मैं इस संसार का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ। मैं आँख आदि समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ। मैं ही वृद्धि को प्राप्त करता हुआ, ज्ञानवान्, प्रसन्न एवं हर (पापों को हरने वाला) हूँ ॥१४॥

सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।
सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥ १५॥

मैं सभी इन्द्रियों से रहित हैं, तब भी समस्त कर्म करने वाला मैं स्वयं ही हूँ। समस्त वेदान्त द्वारा सर्वदा तृप्त एवं सर्व सुलभ मैं ही हूँ ॥१५॥

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।
नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ॥ १६॥

मैं आनन्द एवं शोक रूप हैं, सर्वदा मौन रहने का फल रूप हूँ। नित्य चिद् रूप हूँ तथा मैं ही सच्चिद् रूप भी हूँ ॥१६॥

यत्किञ्चिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नास्म्यहम् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्भोजमध्यगः ॥ १७॥

जो कुछ भी है, मैं उससे रहित हूँ, मैं अति अल्प और अत्यधिक भी नहीं हैं। (मैं) हृदय की ग्रन्थि से रहित हूँ तथा हृदय कमल के मध्य में रहने वाला भी हूँ ॥१७॥

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोषरहितोऽस्म्यहम् ।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ १८॥

मैं (जन्म, अप्तित्व, विपरिणमन, विकास, अपक्षय और विनाश) छः विकारों से रहित, चर्म आदि छः कोशों (चर्म, मांस, रक्त, माड़ी, मेद और मज्जा) से रहित तथा काम, क्रोधादि षड् रिपुओं से हीन हैं और नितान्त अन्तः स्थान में रहने वाला हूँ ॥१८॥

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
नास्ति नास्ति विमुक्तोऽस्मि नकारहितोऽस्म्यहम् ॥ १९॥

मैं देश और काल से रहित हूँ, दिगम्बर एवं आनन्द स्वरूप हूँ। यह नहीं है, यह नहीं है-इससे मैं मुक्त हूँ अर्थात् मैं अभावशून्य हूँ तथा 'नकार' से रहित भी मैं ही हूँ ॥१९॥

अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम् ।
प्रपञ्चमुक्तचित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥ २०॥

मैं अखण्ड आकाश स्वरूप हूँ, अखण्डाकार भी मैं ही हूँ, मैं सांसारिक प्रपञ्चों से परे चित्त वाला हूँ। तथा संसार प्रपञ्चादि से रहित हूँ ॥२०॥

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ २१॥

मैं सर्वप्रकाश स्वरूप हूँ तथा चैतन्य रूपी ज्योति भी मैं ही हूँ। तीनों कालों से परे अर्थात् मुक्त हूँ एवं मैं काम-क्रोधादि से रहित हूँ ॥२१॥

कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहम् सदा ॥ २२॥

मैं देह-अदेह (शरीर-अशरीर) से मुक्त हैं, निर्गुण हूँ तथा मैं केवल एक हूँ। मुक्ति रहित होते हुए भी मुक्त हूँ तथा मैं सदैव मोक्षरहित हूँ ॥२२॥

सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा ।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥ २३॥

(मैं) सत्य-असत्य से रहित हूँ, केवल मैं ही सत्य स्वरूप से (भिन्न) सभी कालों में नहीं हूँ। मैं गमनागमन से रहित हूँ अर्थात् मुझे कहीं जाना

अथवा न जाना नहीं है एवं मेरा गन्तव्य (जाने का स्थान) भी नहीं है ॥२३॥

सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ॥ २४॥

(मैं) सर्वदा समरूप एवं शान्त परमात्मा (पुरुषोत्तम) हूँ। जिसका इस प्रकार से स्वानुभव है, वह | (ब्रह्म) निश्चित ही मैं हूँ। इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है ॥२४॥

यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत् ॥

जो (मनुष्य) एक बार भी इस (मैत्रेयी) उपनिषद् का श्रवण करता है, वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है ॥२५॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

॥हरिः ॐ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदंमाऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म
निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

मेरे सभी अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां पुष्ट हों। यह सब उपनिशद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ तथा ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करें। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदों मे जो धर्म हैं वे आत्मज्ञान मे लगे हुए मुझ मे स्थापित हों। मुझ मे स्थापित हों।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

॥ इति मैत्रेय्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मैत्रेय उपनिषद समात ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥